सन्त-साहित्य में साधना पद्धति का स्वरूप

डॉ0 दिनेश चन्द्र मिश्र

आदर्श इण्टर कॉलेज सरांय अकिल, कौशाम्बी
मो0 नं0 9415639054

किसी उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए स्थिर भाव से की जाने वाली क्रिया को साधना कहा गया है। आत्मस्वरूप की सम्बोधि, ससीम में असीम की अनुभूति एवं व्यष्टि और समष्टि के बीच पूर्ण ऐक्य भाव की अन्तस् प्रज्ञा–यही साधना के कतिपय सोपान हैं जिन पर क्रमिक आरोहण करता हुआ साधक अपने लक्ष्य के उतुंग शिखर पर पहुँचता है। साधना के प्रति अटल निष्ठा एवं अटूट अनुराग की भावना सँजोते हुए अपने भीतर दिव्य और पवित्र चेतना स्फुरण उत्पन्न करनी है। सामान्यतः हमारी चेतना अधोमुखी जलधारा की भाँति बहिर्मुखी होती है। हम योगसाधना के द्वारा चतुर्दिक् बिखरी चेतना को समेटकर आत्म–केन्द्रित करते हैं। योग के आठ अंगो की सहायता से हम मनोनिग्रह करते हैं और इस मानसिक एकाग्रता की अन्तिम परिणति उस परमतत्त्व अथवा 'राम–रस' की उपलब्धि है। सन्तों की दृष्टि में योग की साधना अपने आप में साध्य न होकर साधन स्वरूपा है।

भक्ति की साधना बिना युक्ति (योग) के सम्भव नहीं, क्योंकि जब तक मन स्वच्छन्द भाव से बाह्य विषयों में भटक रहा है, तब तक बिना एकाग्रता के भक्ति क्या किसी भी साधना की सिद्धि दुर्लभ है। यही कारण है कि भक्ति की सिद्धि के लिए सन्तों ने योग को अनिवार्य माना है। सन्तों की साधना में योग–साधना की वही भूमिका नहीं है, जो नाथ–पंथियों की यौगिक साधना में थी। उन्होंने युग के अनुकूल परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी साधना के स्वरूप का निर्माण किया है। नाथों ने जहाँ योग को अपनी साधना में सर्वोच्च स्थान दिया है, वहाँ सन्तों की साधना का चरम प्रतिपाद्य योग न होकर भक्ति है, संन्यास न होकर गृहवास है, विरक्ति न होकर अनुरक्ति है। सन्तों ने हठयोग के जटिल विधानों का बहिष्कार कर भक्तिरसपूर्ण सहज योग जागरण, षट् चक्र भेदन, एवं ब्रह्मरन्ध्र की गुफा से स्रवित रसपान की चर्चा करते हैं। किन्तु अपनी साधना के उत्तरोत्तर विकसित होने पर वे योग के मार्ग से हटकर भक्ति की ओर उन्मुख होते गये हैं। योग से उनका सम्बन्ध रहा भी है, तो केवल सहज–योग के रूप में, जिसमें सारी क्रियायें स्वतः होती है, उसके लिए साधक को किसी प्रकार की कष्ट साध्य एवं इन्द्रियों को बलपूर्वक वश में करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती।

नाथ योगियों की भाँति सन्त भी समस्त चराचर को ससीम और असीम की क्रीड़ा–भूमि मानते हैं, शिव और शक्ति का लीलागार समझते हैं, निर्गुण और सगुण का मिलन–क्षेत्र परिकल्पित करते हैं। सन्त कवियों ने चित्–अचित्, रूप–अरूप आदि नाना भावों से इस तत्त्व का विश्लेषण किया है। ससीम

Scanned with CamScanner

और असीम का द्वन्द्व सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है और जिस समय इनमें समरसता आ जायेगी, उस समय सारा द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जायेगा। सन्तों की दृष्टि में सारे दुःखों एवं क्लेषों का मूल कारण संसारी जीवों की इन्द्रियगत बहिमुर्खता है। द्विवेदी जी ने कहा है–

''सारा भ्रमजाल और कर्म कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है.....। इस से निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति का नाम ही निरति है और भीतर बैठने का और मन और पवन को समरस करने का नाम समाधि है। 'सूरति' मूल रूप में अन्तरतम में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की स्मृति है। बिरले ही योगी उसे पहचान पाते हैं। अगर निर्भय निशङ्क भाव से उस प्रयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाना है तो सूरति को प्रेमरूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय की सूरति (स्मृति) से सू–रति (परमप्रीति) नहीं प्राप्त होती, तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है और सूरति साधार है। निरति और सूरति का या प्राण–मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। यह लक्ष्य है प्रिय–समागम। योग–साधना केवल पाँच इन्द्रियों, मन और प्राण के बहिर्मुख की रोक है। यही लक्ष्य है प्रिय समागम। उस प्रिय की पुकार का ही फल है कि मनुष्य साधना मार्ग की ओर अग्रसर होता है–

''कर्म और मर्म संसार सब वस्तु है, पीव की परख कोइ सन्त जानै।
सूरत और निरत मन पवन को पकरि के, गङ्ग और जमुन के घाट आनै।
पाँच को नाथ करि साथ सोऽहं लिया, अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहै कबीर सोइ सन्त निर्भय धरा, जन्म और मरन का मर्म मानै।''

सुरति–साधना स्थायी सिद्धि–प्रीति प्रदान करती है।''1 योग साधना की अन्तिम परिणति हठयोग के जटिल विधानों का बहिष्कार कर भक्ति रसपूर्ण सहजयोग में होती है। सभी सन्त प्रायः यौगिक क्रियाओं की सार्थकता अपने परम काम्य राम से मिलन में ही मानते हैं। जब तक मन अपनी परम कुटिलता का परित्याग कर हरि के प्रति सच्चा नहीं हो जाता, तब तक चाहे कितने ही यौगिक–प्रपंच किये जायें, उनसे कुछ नहीं बनता। कबीर ने इसीलिए बड़े आश्वस्त–भाव से कहा था कि अरे भाई! जब तक तुम 'भावभगति' की साधना नहीं करोगे, तब तक तुम्हारा इस दुस्तर भवसागर से कैसे निस्तार होगा? बिना 'भाव–भगति' और ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास के संशय–ग्रन्थि का उच्छेदन असम्भव है और जब तक संशय की–जन्म जन्मान्तरों के नाना कर्म विकारों की गाँठ नहीं खुलती, तब तक मुक्ति की स्वप्न में भी आशा करना व्यर्थ है। जब तक सद्गुरु की सीख निष्ठापूर्वक साधना एवं वायु–संयमन के द्वारा नाड़ियों का संशोधन होते हुए सुषुम्ना का मार्ग जिसे अवरुद्ध कर वह परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई है, नहीं खुल जाता, तब तक उस मैली जीवात्मा की मलिनता से मुक्ति असम्भव है। द्विवेदी जी का कथन है कि शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है– इसी को 'पिण्ड ब्रहाण्डैक्य' भी कहते हैं– तो योगियों की परमकाम्य कैवल्य अवस्था वाली 'सहजसमाधि' प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर और आनन्द नहीं है।''[2] इस प्रकार सन्तों की योग–साधना की अन्तिम परिणति भक्ति में होती है। इसी तरह ''सूफी संतों ने साधना के क्षेत्र में आत्मा का परमात्मा में लय होना तो मानते हैं, किन्तु उसे फना की

Scanned with CamScanner

संज्ञा से अभिहित करते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा का परमात्मा में पूर्ण लय हो जाना एकमेव होना ही मोक्ष है। इसी स्थिति को लेकर सूफी साधकों में मतभेद है। कुछ सूफी साधक प्रथम अवस्था जिसे 'फना' कहते हैं, को ही चरम लक्ष्य और साधक की अंतिम मंजिल मानते हैं और कुछ सूफी साधक जिसे 'बका' कहते हैं उसी को चरम लक्ष्य मानते हैं।''[3] 'कुरान में ईश्वर या अल्लाह को सर्वोपरि माना गया है, सूफी साधक मंसूर अल इल्लाह को अनहलक कह देने पर फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया था। इस्लाम धर्म यह मानता है कि आत्मा की सत्ता किसी भी अवस्था में बनी रहती है और उस आत्मा का नाश नहीं होता है।''[4] सिक्ख गुरुओं के भी मत से चित्त की चंचल वृत्तियों का बलपूर्वक संयमन करने से काया को कष्ट भले ही मिले किन्तु मन में रस अथवा आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। उस 'परमरस' की उपलब्धि तो नाम–सुमिरन से ही सम्भव है। दादू ने प्राण पवन के द्वारा त्रिकुटी के संगम में मन को केन्द्रित कर पाँचों इन्द्रियों को प्रियतम के चरणों में बाँधनें के लिए कहा है। वे उसी को आदर्श योगी समझते है जो एकाकी रमण करता हुआ परम पुरुष से मिलाप करने का सौभाग्य पा सके। इसीलिए वे 'झिलमिल'–सेज' में प्रियतम के साथ प्राणों की कौतुक–क्रीड़ा देखकर आनन्द विभोर हो जाते हैं। उनकी साधना का पूर्ण पर्यवसान प्रेम संयुक्त भक्ति में होता है।

सन्तों की दृष्टि में इस संसार के सारे प्राणी दुःखी है–गृही, वैरागी, जोगी, जंगम, तपसी, ब्रह्म, विष्णु–महेश, अवधूत, राजा, रंक इत्यादि इन सभी को आशा और तृष्णा ने ग्रस्त कर रखा है। इन सबमें यदि कोई सुखी है, तो वह एकमात्र अकेला सन्त साधक ही है, जिसने मन पर विजय पा लिया है। कबीरदास जैसे संत कवि ने तो शरीर को केले का वन माना है और मन को मदमस्त हाथी की संज्ञा दी है तथा ज्ञान को अंकुश बताकर उसमें सन्त साधक रूपी महावत को बैठाकर मन तथा शरीर के सभी पापों को दूर किया है–

''काया कजरी बन अहै, मन कुंजर मैमंत।
अंकुश ज्ञान रतन है खेवट विरला संत।।''[5]

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संत–साधक उन लोगों को माना है जो असज्जन और खल का विपरीतार्थक है–

''बंदउ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
विछुरत एक प्रान हरि लेही। मिलत एक दारून दुख देही।।''[6]

इनके मत में संत साधक को सदैव कोमलचित्त और कारुणिक हृदय वाला होना चाहिए।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़ी ही सहज और जीवन्त भाषा में प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा है– ''माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है, तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निःशेष भाव से आत्मसमर्पण की लालसा दिख जाती है, तो इस रूप का आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम–समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित तरंग वारि–धारा में या ऐसे ही किसी संकटापन्न स्थान में अनायास फेंक देने के उल्लास से

Scanned with CamScanner

चंचल हो उठता है तो भगवान् के निर्मल प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह में दया, माया और त्याग तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है। ..... प्रतिक्षण, प्रतिवस्तु में प्रतिक्रिया में उसे देखा जा सकता है। ..... अन्तः करण में बैठे हुए परम देवता के साथ जब तक प्रीति सम्बन्ध का भाव उदित नहीं होता, तब तक सिंहद्वार बन्द ही रहेगा और उस महाप्रेमिका का भक्त हृदय के अन्तःपुर में प्रवेश करना कठिन ही रह जायेगा। इसीलिए सिंहद्वार का खुलना आवश्यक है–

'सूरति निरति परचा भया, तब खुलि गया स्वयं दुआर।'[7]

संत कवियों की रचनाओं के अनुशीलन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि उनकी बानियों में हृदय के सच्चे उद्‌गार मुखरित हुए है। वे अपने आराध्य के प्रति बड़ी तन्मयता के साथ नाम–सुमिरन के माध्यम से भक्ति–भाव प्रदर्शित करते हैं, भले ही उनकी मानसिक भक्ति में सगुणवादियों की भाँति विग्रह–पूजन, अर्चन का कोई विधान न हो और न वे अपनी इस सहज–साधना में किसी प्रकार के आयास या अभ्यास की ही आवश्यकता समझते हैं। यह तो अपने आप सम्पन्न होती चलती है। उसके लिए साधक को कहीं आने जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे तो यहाँ तक कहते है– 'राम हमारा जप करै हम बैठे आराम।' सन्तों की साधना अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण आत्मेक्य स्थापित करती हुई, अपने भीतर और बाहर उसे ओत–प्रोत समझकर उसके साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लेती है, जिसके कारण आराध्य और आराधक में किसी प्रकार का सेव्य–सेवक भाव न रहकर उसमें शुद्ध स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है। अपनी इस साधना को सम्पन्न करने के लिए साधक को सद्‌गुरु की कृपा एवं सांकेतिक प्रेरणा प्राप्त करना परम अनिवार्य है।

संदर्भ संकेत–

1. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)– सन्त साधना में ससीम और असीम, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, पृष्ठ 489
2. वही, पृष्ठ 488
3. 'सूफीमत और साधना' – श्री रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण संवत् 2013, पृष्ठ 290
4. 'द आइडिया ऑफ परसनैल्टी सूफीज्म' निकल्सन, पृष्ठ 15
5. 'कबीर ग्रंथावली' – श्यामसुंदरदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ 228
6. रामचरितमानस – गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 8
7. हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, पृष्ठ 486–488

Scanned with CamScanner